अनन्तर/जनसत्ता/५ नवंबर, २००६

हर्षा की रेतघड़ी

ओम थानवी

बगैर ज्यादा सोच-विचार के किए गए कामों का अपना ही सुख है।

जाना था न्यूयॉर्क। उसमें टोरांटो जुड़ा। लुत्फ की यात्रा हुई।

न्यूयॉर्क से सैन फ्रांसिस्को का कार्यक्रम ऐसे ही बना। चित्रकार स्वामीनाथन हर्षवर्द्धन- जिन्हें अपनापे में लोग हर्षा कहते हैं- मेरे दोस्त हैं। उनका काम मुझे पसंद है। एक रोज मेरे घर उन्होंने बताया कि अमेरिका में उनके चित्रों की प्रदर्शनी है। मैंने कहा, उन दिनों में मैं भी वहीं रहूंगा और प्रदर्शनी के उद्घाटन में आऊंगा।

प्रदर्शनी पालो आल्टो में थी, जो कैलिफोर्निया में सैन फ्रांसिस्को के पास है। मैंने नक्शा देखा। इधर न्यूयॉर्क था। उधर धुर पश्चिम में सैन फ्रांसिस्को। साढ़े छह घंटे की लंबी उड़ान। इतने वक्त में हम भारत से यूरोप की देहरी पर पहुंच जाते हैं! बहरहाल, देखने का मन था कि पश्चिम में भारत की आधुनिक कला की अपूर्व मांग का सबब क्या है। तो चलते-चलाते एक यात्रा और।

पालो आल्टो। यानी मशहूर स्टैनफर्ड विश्वविद्यालय की नगरी।

कैलिफोर्निया के नाम से मेरी तरह अगर आपके मन में भी रेगिस्तान, उजाड़ पर्वतों या चरवाहे, घुड़सवारों की छवि उभर आई हो तो उसे जरा बदल कर देखें। पालो आल्टो उस हरी-भरी 'सिलिकॉन' घाटी का कस्बा है जिसने दुनिया को कंप्यूटरों और इंटरनेट के जंजाल से आक्रांत करने में सबसे अहम भूमिका निभाई है।

ऐसी घाटी में कला का क्या काम? यह मासूम सवाल मैंने सैन फ्रांसिस्को उतरते ही प्रजल दत्त से पूछा। प्रजल पेशे से वास्तुकार हैं। वे दिवंगत अजीत कुमार दत्त के पुत्र हैं जो दिल्ली में बरसों ललित कला अकादेमी के सचिव रहे। प्रजल की पत्नी ममता प्रकाश न्यूयॉर्क में आर्ट्सइंडिया कलादीर्घा चलाती हैं। पालो आल्टो की दीर्घा उनका दूसरा समांतर उद्यम है।

प्रजल ने गहरे लाल रंग में पुते सैन फ्रांसिस्को के जाने-माने 'गोल्डन ब्रिज' के दूसरी तरफ गाड़ी रोकी और प्रशांत महासागर का मोहक दृश्य दिखलाते हुए बोले कि यहां यांत्रिक जीवन की ऊब के बीच कला राहत का बड़ा सामान है। भारतीय कलाकार अपनी प्रकृति से सौम्य और कोमल रंगों का इस्तेमाल करते हैं। उनका अमूर्तन पश्चिम के व्यक्ति को कतई अजनबी प्रयोग नहीं लगता; हालांकि पूर्व की आकृतियां भी उन्हें कम नहीं लुभातीं।

भारतीय अमूर्तन में इस अमेरिकी रुझान को उस शाम आर्ट्सइंडिया-वेस्ट दीर्घा में मैंने साक्षात देखा। छह बजने के साथ कलाप्रेमियों की आमद शुरू हो गई थी। दीर्घा की खूबी यह है कि वह चौड़ी सड़क पर है और बाहर की दीवार एकदम पारदर्शी है। ऐसे में दिन की रोशनी में कलाकृतियों के रंगों की आभा अपने सहज रूप में खिलती है।

हर्षवर्द्धन उस शाम के नायक थे। प्रदर्शनी के पहले रोज वे खुद वहां होंगे, यह खबर स्थानीय अखबारों में थी। छालटी (लिनन) के बुझे-सफेद रंग के कोट में वे अलग से पहचाने जा सकते थे। जल्दी ही उनके प्रशंसकों ने उन्हें घेर लिया। कलादीर्घा न रही होती तो कोई उन्हें किसी डिस्पेंसरी में मरीजों से घिरा चिकित्सक समझता। एक शख्स को तो सचमुच उनसे इलाज की दरकार थी! उसके संग्रह में हर्षा की एक पुरानी कलाकृति है, जिसका कुछ नुकसान हो चला था। वह चाहता था कलाकार स्वयं उस कृति को दुरुस्त कर दे। हर्षा ने साफ, मगर विनय के साथ, कहा कि इसके लिए आप किसी आर्ट रेस्टोरर (रख-रखाव विशेषज्ञ) की मदद लें, ''मैं एक कृति पर दो बार काम नहीं कर सकता।'' अलबत्ता अपने उस मुरीद के घर अगले रोज आने का प्रस्ताव हर्षा ने स्वीकार कर लिया, इससे उसके शुष्क पड़ते चेहरे पर रौनक नमूदार हुई।

मैंने गौर किया कि दीर्घा में तमाम कलाकृतियां बहुत सलीके और करीने से प्रदर्शित थीं। सामने एक पूरी दीवार पीले रंग में ताजा पुती थी, जिस पर 'एस. हर्षवर्द्धन' हस्ताक्षरों का फैलाव था। तीन दीवारों और बीच के विभाजक पटल के दोनों तरफ कुल मिलाकर पंद्रह कृतियां प्रदर्शित थीं। कलादीर्घा की प्रभारी नूला मैलेट ने

बताया कि हर्षा की कुछ पुरानी कृतियां भी उनके पास हैं, पर वे प्रदर्शित नहीं की गई हैं; वे कृतियां स्मारिका (कैटलॉग) में थीं और दीर्घा की वेबसाइट (आर्ट्सइंडिया-डॉट-कॉम) पर भी प्रदर्शित हैं। अमेरिका में कलाकृतियों का ज्यादातर कारोबार अब इंटरनेट की मदद से होता है; प्रदर्शनियों का आयोजन अक्सर रिवायती और दीर्घाओं की उपस्थिति कायम रखने के लिए होता है।

अगले रोज हर्षा किसी टीवी चैनल के लिए अपने प्रशंसकों के साथ एक संवाद की रेकार्डिंग में मसरूफ हुए और मैंने कलादीर्घा में इत्मीनान से उनके नए काम का जायजा लिया। मुझे इस बात का कुछ अफसोस-सा हुआ कि ये कलाकृतियां भारत में शायद कभी प्रदर्शित नहीं हो पाएंगी। वे कलाकार के स्टूडियो से सीधे अमेरिकी दीर्घा में आई हैं और यहां से खरीदारों के घरों में चली जाएंगी। यह कला की व्यावसायिक सफलता के विस्फोट में हासिल हुई अजीबोगरीब नेमत है। शायद कलाकारों को भी इस बात का रंज होता होगा। मुझे इसका अहसास कुछ तल्खी के साथ हुआ तो महज इसलिए कि हर्षा का यह काम उनके अब तक के काम से बहुत अलग लगा और महसूस हुआ कि कलायात्रा के इस मोड़ की प्रत्यक्ष अनुभूति देश के कलाप्रेमियों को भी होनी चाहिए। बहरहाल, इस नए काम का इकलौता साक्षी होने की मेरी खुशी इस उधेड़बुन में कहीं दुबक गई।

हर्षा के नए काम में नया क्या है? उनकी कलायात्रा को लगातार देखने वाले जानते हैं कि उनके काम की बड़ी पहचान दो चीजें रही हैं: खड़िया (पैस्टल) के रंग और कागज। जबकि इस प्रदर्शनी की सारी कलाकृतियां मिले-जुले रंगों में बनी हैं, जिनमें एक्रिलिक और तैल-रंग भी शामिल हैं। दूसरे, आयोजन की अधिकांश कृतियां किरमिच (कैनवस) पर हैं। कुछेक कृतियां कागज पर हैं, मगर उन पर भी हर्षा ने रासायनिक और तैल-रंगों को बरता है जो अपने में आसान काम नहीं है। पांच साल पहले दिल्ली में हमारी ही बस्ती की एक कलादीर्घा में उनके काम में मिले-जुले रंगों की आमद देखकर मुझे सुखद हैरानी हुई थी। इस दफा उनके काम में कागज पर किरमिच के दबदबे में अपने भीतर मैंने कुछ मिली-जुली प्रतिक्रिया अनुभव की। कागज पर खड़िया के सूखे और तैल-रंगों का भुरभुरापन एक खुरदरी सतह तैयार करता था जिस पर रंग, रूप बनकर पसर जाते थे। रंगों की परत-दर-परत अलग-अलग छवियां किसी छाया की तरह कागज पर पसरती जाती थीं। छायाओं के वे रंग और रूपाकार अब भी मुझ पर जादू की तरह छाए हैं, जिनसे बरी होने में लगता है मुझे वक्त लगेगा।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि पालो आल्टो में संयोजित हर्षा का नया काम पहले के काम से कमतर था। यहां उनकी दिशा तकनीक में थोड़ी बदलती है। उसकी वजह से रंगों और उनकी छटाओं की तरतीब भी स्वाभाविक रूप से बदल जाती है। लेकिन शायद ऐसे ही प्रयोग कलाकार को आगे बढ़ाते हैं। कुछ छोड़ना, ढर्रे को तोड़ना और नए रास्तों की खोज करना। हां, देखने वालों को- जैसा कि मेरे साथ हुआ- अपना ढर्रा तोड़ने में जरूर वक्त लग सकता है!

हर्षवर्द्धन मूलत: अमूर्तन के शिल्पकार हैं। लेकिन आकृतिमूलकता को सिर्फ मानव-आकृतियों के घेरे में न देखा जाय तो हर्षा का प्रतीकात्मक आकृति-बोध अपने पुराने काम की धारा में बदस्तूर है। उनकी पहली प्रदर्शनी का संयोजन ठीक दस बरस पहले कवि और रसज्ञ प्रयाग शुक्ल ने किया था। उसमें और उसके बाद १९९७ और १९९९ में आयोजित हुई दो एकल प्रदर्शनियों की कृतियों में अमूर्त रूप में भी बहुत-से रूपाकार स्पष्ट झलक आते थे। चांद उनमें एक अक्सर दिखाई देने वाली आकृति था। नीले अंधेरे में उजियारा तब किसी भी दिशा से फूट सकता था। प्रकाश एक साथ कई सतहों पर प्रवाहित था।

लेकिन मेरी समझ में हर्षा के काम में सबसे मुखर प्रतीक शायद रेतघड़ी है। नई कृतियों में उसके सहारे वे अब ज्यादा रूपाकार गढ़ते हैं। आप कभी उनके घर जाएं तो देखेंगे कि उनकी बैठक में भी एक रेतघड़ी रखी है। उनकी कला के फलक पर वह- समय की तरह- नानाविध रूपों में फैल जाती है। वह बताती नहीं, उस समय को थामने की कोशिश करती है। कण-कण रीतता काल। अंधेरे और उजाले के बीच डोलता; अंधेरे की तरह ठहरता और प्रकाश की तरह झरता हुआ। यह रेतघड़ी कमोबेश हर कृति में मौजूद है। कभी वह महज त्रिभुज का रूप लेती है; कभी दूसरा त्रिभुज उलट कर आकृति की पूर्णता धारण करता है। कभी वह झूल जाता है, पसर जाता है। कहीं एक-के-बाद-एक लंबी कतार है। ऊपर भी, नीचे भी। वह नृत्य-रत है। ठहर जाता है। चल पड़ता है। सो जाता है। गायब होता है और उभर आता है। काल का एक अनवरत डमरु-नाद। कभी मौन। कभी मुखर। समय के कलाकार के भीतर बहुत रूप होंगे। मगर उनसे ज्यादा उन्हें वह हमारे भीतर छोड़ जाता

है। काल का यह फैलाव मन में ऐसे आकाश की रचना करता है जिसमें स्थूल आकृतियों का बोध तिरोहित होकर पीछे सिर्फ रंगों और उसकी छायाओं का सुखद विस्तार छोड़ जाता है।

हर्षा के नए काम में इत्मीनान है। पहले उनके रंग बेचैन नजर आते थे; उनमें अपने ही भीतर किसी रूप की तलाश की छटपटाहट थी। आकार एक-दूसरे से टकराते थे और नया आकार बनाते थे। गौर करें कि वे कूची का इस्तेमाल नहीं करते। रंग ही रेखाओं में ढलते हैं। लेकिन एक अर्जित आत्मविश्वास के साथ उनके रंग अब ठहरते नहीं, बहते हैं। उनमें एक अनूठा संयम दिखाई पड़ता है। शायद यह अकारण नहीं कि उनके पहले के काम में नीला रंग बहुत था। अब पीला, हरा और यहां तक कि लाल भी असरदार तेवर में मौजूद है। और तो और, धातु रंग भी: सुनहरा, रुपहला और तांबई। ऐसा पहली बार हुआ है। यह हर्षा का नया रूप है। इसमें उजास है और ताजगी भी।

कला में रंग और रूप अपनी चरम सिद्धि में वैसा ही प्रभाव पैदा करते हैं जैसे शास्त्रीय संगीत में सुरों की तरंगें। हर्षवर्द्धन शास्त्रीय संगीत के रसिया हैं। उन्होंने अपनी दो एकल प्रदर्शनियां मल्लिकार्जुन मंसूर और कुमार गंधर्व की स्मृति को समर्पित की थीं। आप समय देकर कुछ तसल्ली के साथ हर्षा की कलाकृतियों को देखें तो सुर-ताल की हिलोर आपको प्रत्यक्ष सुनाई पड़ेगी। हर्षा अपनी कृतियों को- उचित ही- कोई नाम नहीं देते हैं। लेकिन आप अपनी रुचि और स्मृति के मुताबिक उन्हें यमन, पीलू, देस या मारवा जैसा कोई नाम दे सकते हैं। चाहे न दें। मगर मुझे भरोसा है इसके बाद जब कभी आप अपनी पसंद के राग सुनेंगे, कुछ रंग-रूपों की गूंज जरूर उनमें से निकल कर आती अनुभव होगी।

हर्षवर्द्धन बेहतरीन इंसान हैं। अपनी कला में वे जितने अमूर्त हैं, बातचीत में उतने ही मुखर। उनसे बात करना समय का बेहतर उपयोग करना है, बशर्ते आपके पास उसकी कमी न हो। पालो आल्टो में हम दोनों के पास काफी समय था। खूब बातें हुईं। हम जानते हैं कला की दुनिया में वे बाद में आए। मशहूर कलाकार जगदीश स्वामीनाथन के बेटे होते हुए भी। ''अप्पा ने कभी कलाकार बनने का हुक्म नहीं दिया।'' पढ़ाई में हर्षा अव्वल थे। सो विज्ञान पढ़ा और पिलानी में जीव-विज्ञान में निष्णात होकर एक बहुराष्ट्रीय कंपनी में अधिकारी हो गए। पैसा था, पर मन बेचैन रहता था। जन्म कलाकार के घर हुआ। दोस्ती भी कलाकारों से थी। नौकरी से वक्त पाते ही प्रदर्शनियां देखते। ''जैसे दो जिंदगियां एक साथ जी रहा था।'' एक दफा मुंबई की एक प्रदर्शनी से अपने पिता की ही कलाकृति गुपचुप खरीद लाए। उनसे लगाव था। उनके कलाकर्म में आस्था भी। और एक रोज ''समझिए कला ने अपनी ओर खींच लिया।'' नौकरी-चाकरी छोड़कर ईजल उठा लिया। ''सलीब की तरह''। यह १९९१ की बात है। पता नहीं था, भविष्य क्या होगा। ''लोगों ने पागल समझा। मुझे भरोसा था, थोड़े वक्त के बाद कुछ पहचान बन जाएगी। कुछ वर्ष नौकरी में बचाए पैसों के सहारे कटे। और धीमे-धीमे शायद कुछ बात बन गई।''

अपनी कला में रूप (फॉर्म) को लेकर शुरू में उनमें बड़ी कशमकश रही। बोले, बनाए तो कुछ बनता नहीं। ''कलाकार बनाता नहीं, रचता है। बनते-बनते कुछ रच जाए तो समझें कुछ कला का काम हुआ!'' मूर्त-अमूर्त की बात वे अर्थहीन मानते हैं। ''कला में एक स्तर पर सब मूर्त है, दूसरी तरफ अमूर्त। एक मूर्तिकार कुर्सी बनाता है। कुर्सी का आराम हम कुर्सी की मूर्ति में तो नहीं ढूंढ़ते! उसमें कुर्सी का रूप है; फिर भी नहीं है।'' कला में भारतीय-अभारतीय की बहस भी उनकी नजर में बेमानी है। ''झण्डा बना देने से भारतीयता तो नहीं पैदा हो जाती। सिर्फ वातावरण देशज होता है और वह अपने सहज रूप में निकल आता है।''

कला में अर्थ खोजना हर्षवर्द्धन ज्यादा अर्थहीन मानते हैं। वे पते की बात कहते हैं: कला अर्थ संप्रेषित करने के लिए नहीं होती। ''इसका मतलब यह नहीं कि कला निरर्थक होती है। एक कृति में हजार अर्थ हो सकते हैं। दीवार पर टंगने के बाद कलाकृति देखने वाले की हो जाती है, कलाकार की नहीं रहती।'' वे एक सुंदर उदाहरण देते हैं। लता मंगेशकर के गाने को आप दुबारा सुनें तो वही सुनाई देगा जो पहले सुना; मल्लिकार्जुन मंसूर का राग यमन सुनें तो हर बार कुछ नया सुनाई देगा। '' ऊंची कला के मामले में यही बड़ी बात है।... किसी फिल्मी गाने या विज्ञापन की इबारत का जरूर एकांगी अर्थ हो सकता है, कला का नहीं।''

आधुनिक भारतीय कला की पश्चिम में लोकप्रियता पर उनकी दो टूक राय यह थी कि पश्चिमी कृतियों के मुकाबले हमारी कृतियां उन्हें सस्ती मिल जाती हैं। हालांकि भारतीय कलाकारों को उनका दाम खूब लुभाता है। मैंने इस पर हैरानी प्रकट की कि कलाकार पैसे के लिए अब किसी भी दीवार पर टंगने को तैयार हो जाता है। हर्षा की राय बहुत साफ थी- अच्छा हो खरीदार में कला की थोड़ी समझ भी हो। कोरे विनियोग के नजरिए से

खरीदी जाने वाली कला नासमझ हाथों में जा सकती है। लेकिन खरीदार की कोई परीक्षा कैसे ले?

चलने लगे तो हर्षा ने हर्ष के साथ बताया कि उनके हर नए काम को अमेरिका में अग्रिम खरीद लिए जाने की पेशकश हुई है, जिसे उन्होंने साफ शब्दों में नकार दिया है। हंसते हुए बोले, ''मैं चाहता हूं कुछ काम घर (देश) में भी रहे!''

दुरुस्त। मगर शायद इससे भी ज्यादा जरूरी यह होगा कि वह अच्छे हाथों में रहे। ऊंचे बाजार में कला निहारने से ज्यादा विनियोग की चीज बनती जा रही है।

कैप्शन

- पालो आल्टो (कैलिफोर्निया) की कलादीर्घा के बाहर एक कला-संग्राहक से बतियाते हर्षवर्द्धन

- हर्षा की एक नई कृति: काल का डमरु-नाद